मधारा





ले०

आर्य्यदत्त जुगड़ाँण।



प्रेमधारा

या

आनन्द-मार्ग ।

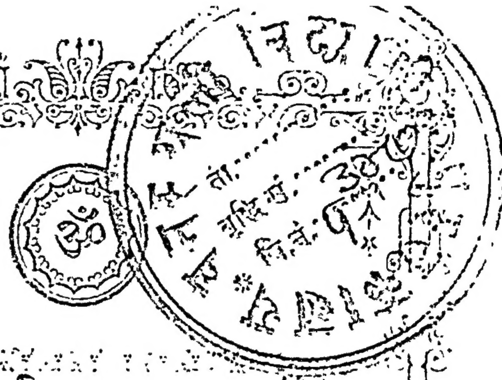
लेखक तथा प्रकाशक-
गढ़वालान्तरगत कीठग्राम निवासी
पंडित रघुवरदत्तात्मज आर्य्यदत्त जुगड़ाँण ।

वी० एल० पावगी द्वारा
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस सिटी
में मुद्रित ।

संवत् १९७७) (सन् १९२० ई०

प्रथम संस्करण १०००

—मूल्य, ।≡)



समर्पण-पत्र ।

परमविदुषी निजधर्मपरायणा माननीया
हरहाईनेस बड़ी राजमाता (डूँगरपुर-
राजपूताना) श्रीमती देवेन्द्रकुमारी
देवी जोधपुरीजी साहिवा के
करकमलों में श्रीमती के
हिन्दी-साहित्य-सेवा के
पूर्णप्रेम के उपलक्ष
में आदर पूर्वक
समर्पित ।

आर्य्यदत्त जुगड़ाँण ।

सूचीपत्र ।

विषय	पृष्ठांक
प्रथम प्रवाह	
मंगलाचरण	१
प्रेम	२
द्वितीय प्रवाह	
गीता के कुछ वाक्यों का सार	११
तृतीय प्रवाह	
आर्य्य माता का उपदेश	२४
चतुर्थ प्रवाह	
प्राचीन भारत की कर्मवीरता	३९
हमारा कर्त्तव्य	४३
पञ्चम प्रवाह	
सारांश	४९
ईश्वर प्रार्थना	४८

इति ।

भूमिका

वाचक वृन्द ! बड़े भारी राज्यैश्वर्य को छोड़ कर तपस्वियों के वेष में वनवास को जाते हुये भी जिस वेदान्त विद्या के बल से श्री रामचन्द्र जी ने अपने हृदयागार में शोक को तिल मात्र भी स्थान नहीं दिया। जिस वेदान्त विद्या के प्रभाव से हनुमान आदिक विश्व-विजयी कामदेव को विजय कर महावीर पदवी को पा गये। तपस्वियों की दशा में अर्थात् धन जनों से हीन अवस्था में प्राप्त होते हुए भी जिस वेदान्त विद्या के अनुग्रह से रामचन्द्रजी स्वर्णमय लंकेश्वर सम्राट् को न्याय पूर्वक प्राण दण्ड देने तक समर्थ हुए। धर्मराज युद्धिष्ठिरादिक जिस वेदान्त विद्या की कृपा से घोर विपत्तियों के पड़ने पर भी अपने सत्यरूपी किले से विचलित न हुए। जिस वेदान्त विद्या की सहायता से दधीचि ऋषि आदियों ने प्राणों के रहते हुए भी अपने शरीरों के टुकड़े करवाने में जरा भी शंका न की, जिस वेदान्त विद्या का अवलम्बन लेकर नारदादि ऋषियों ने लोकोपकार से वंचित रहकर मुहूर्त मात्र भी विश्राम लेना नहीं चाहा। जिस वेदान्त विद्या की दया से राजलक्ष्मी के साथ रहते हुए भी भीष्म आदियों ने आजन्म आद्याश्रम को पालने की भीष्मप्रतिज्ञायें की हैं। युवावस्था में अपनी भुजाओं के बल से संसार भर की रक्षा करने वाले प्राचीन भारत के भूप जिस वेदान्त विद्या का सहारा लेकर वृद्धावस्था के आरम्भ होते ही सम्पूर्ण राज-वैभवों को तिलाञ्जलि देकर बड़े हर्ष के साथ मुनि-वनों के वृक्षों की शरण ले लेते थे। जिस वेदान्त विद्या की अनुकम्पा से अभि-

मन्यु आदि वीरों ने बाल्यावस्था ही में विविध भाँति की राज सम्पत्तियों को पीठ दिखा कर अपने कर्त्तव्य पर तृण के समान शरीर त्याग कर दिये। जिस वेदान्त विद्या का आश्रय लेकर श्री सीतादि सतियों ने भयंकर राक्षसों से भीषण भय दिखाये जाने पर भी अपने सतीत्व सर्वस्व की रक्षा करने में तनिक भी कातरता नहीं दिखाई। जिस वेदान्तविद्या के प्रसाद से द्रौपदी आदि देवियों ने अपनी शक्ति के सामने बड़े बड़े शूर वीर रण-पण्डितों का प्रयास निष्फल कर दिया। जिस वेदान्त विद्या को पढ़कर सुमित्रा आदि माताओं ने धर्म के मार्ग पर अपने प्यारे पुत्रों को त्याग करते हुये जरा भी मोह नहीं किया। किन्तु हा! हा! उन संसार के मुकुट-मणि पूर्वजों की अभागी संतान हम आज उसी सर्वोच्च वेदान्त विद्या को पढ़कर आलसियों और बकवादियों की श्रेणी में नियुक्त होते जा रहे हैं। हाय! बन्धुओ! हमारे पूर्वज जो इस समय हमारी इस वर्तमान दशा को देखें तो उनकी आँखें श्रावण भादों का रूप धारण किये बिना न रहें। क्योंकि हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्षों बड़ी २ कठिनाइयों को झेल कर जिस शास्त्र सम्पत्ति का उपार्जन किया है, हम नालायक संतान उसे बात की बात में धूल में मिलाते जा रहे हैं। हमारे पूर्वजों की एकत्रित की हुई शास्त्र सम्पदा से अन्य देश आनन्द के पारावार बनते जा रहे हैं। और हमारा देश विपत्तियों का निवास-स्थल दिखाई दे रहा है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हम लोग अपने शास्त्रों को शास्त्रज्ञ कहलाने के लिए तोता की तरह शब्द-माला रट रहे हैं। पर उनके गूढ़ तत्व पर विचार नहीं करते। जिसका कि हमारे पूर्वज किया करते थे। बन्धुओ! आप ही अपने हृदय में सोच लें कि जो हमारे पूर्वज भी वेदान्त पढ़ कर ऐसे ही वेधान्ती होते जैसे कि इस

समय हम लोग हो जाया करते हैं तो भला क्या वे इस विकट संसार संग्राम के विजयी कहे जा सकते थे ? । इस लिए कहने की आवश्यकता न होगी कि जो हम अपने आप को और अपने देश को सुख सागर की ओर बहाना चाहें तो हमें भी वेदान्त पढ़कर उसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए, जिसका कि हमारे पूर्वज किया करते थे । यद्यपि उक्त मार्ग के विषय में लेखनी उठानी मेरे समान व्यक्तियों के लिए ऐसा है जैसा कि चींटी को पर्वत उठाने के लिए तैयार होना । तथापि उक्त विषय पर कुछ न कुछ लिखना उचित समझ कर अपने भावों की परीक्षा के रूप में इस (प्रेम धारा नामक) पुस्तक को मैं अपने पाठकों की भेंट करता हूँ । अब मुझे पास अथवा फेल करना तो विचार-शील पाठकों के हाथ में है । किन्तु इतना तो मैं स्वयम् ही कह देता हूँ कि जो कुछ मेरे भाव थे, वे मैंने अपने शब्दों में व्यक्त कर दिये हों, यह आशा मुझे ही नहीं होती । क्यों कि अपनी वर्णन शैली में अपने भावों का भली भाँति उद्घाटन कर देना कवित्व-शक्ति-सम्पन्न ही लोगों का काम है । मेरे समान प्रतिभाहीनों का नहीं । सच पूँछो तो मैं यह भी यहाँ पर पुनरुक्ति दोष ला रहा हूँ जो अपनी बुद्धि का परिचय दे रहा हूँ । क्योंकि विचारवान् वाचक मेरी बुद्धि की परीक्षा मेरी बनाई हुई इन्हीं (इस पुस्तक की) तुकबन्दियों से कर सकते हैं । पर, अब जो आप लोग मुझे पूछें कि इतनी तो अपनी दशा स्वयं जानता है तो इन तुकों के फंद में क्यों फँसा ? इसका कारण यह है कि कुछ दिन व्यतीत हुए भ्रमण करता हुआ मैं राजपूताने के एक राज्य में जहाँ कि मेरा कोई पूर्व परिचित न था ऐसा रोगाक्रान्त हुआ कि रोग से उन्मुक्त अवस्था में भी दुर्बलता के कारण कुछ दूर तक भी भ्रमण करना मेरा महिनों बंद रहा । बस उस

अवस्था में मैंने अपने चित्तविनोदार्थ इन तुकों का गढ़ना प्रारम्भ किया था। और लगातार कुछ दिनों तक तो इन तुकबन्दियों को लिख २ कर फाड़ता रहा। पर जब मैंने कुछ मित्रों के आग्रह से ये तुकबन्दियाँ कुछ सम्पादक महाशयों की सेवा में भेजीं और उन महोदयों के प्रेषित किये हुये धन्यवाद सहित अपने पद्यों की स्वीकृति के पत्र पाये, तो मेरा उत्साह बढ़ा और अन्त की कुछ बची हुई तुकबन्दियों को मैंने पुस्तकाकारों में प्रकाशित कराने का साहस किया, जिनमें से एक यही (प्रेम धारा नामक) पुस्तक है। और एक दूसरी। जिसके पद्यों की संख्या लगभग इस पुस्तक की पद्य संख्या से आधी है। यदि पाठक दया दृष्टि से इस "प्रेमधारा" नामक पुस्तक को अपने कर कमलों में स्थान देकर मेरा उत्साह बढ़ावेंगे तो मैं शीघ्र ही दूसरी पुस्तक को भी प्रकाशित करानेका विचार करूँगा।

हाँ, एक बात का पश्चात्ताप मुझे अभी भी है कि मैं इन तुकों के जाल में न फँस कर साधारण गद्य लिखता तो आशा थी कि अपने मानसिक भावों को कुछ न कुछ इस से अधिक उद्घाटन कर सकता। क्योंकि तुकों के बन्धन में पड़ कर अपने हृदयस्थ भावों के चित्र को पाठकों के हृदय में भी खींच देना बहुत कठिन होता है। इसीलिये मैंने विचार किया था कि इस पुस्तक में विशेष टिप्पणियाँ कर डालूँ। पर, पूर्वापर विचार कर फिर यही निश्चय करना पड़ता है कि टिप्पणियों की संख्या बढ़ानी भी तभी अच्छी है, जब मूल ग्रन्थ कुछ भी ग्राह्य समझा जाय।

निवेदक—

लेखक

ॐ

प्रेम-धारा।

या

आनन्द मार्ग

प्रथम प्रवाह

मंगलाचरण

(१)

जगदीश ! जगदाधार ! यद्यपि हो अजन्मा हे विभो !
तोभी जगत के मूल कारण एक तुमही हो प्रभो !
इस प्रेमधारा में न कुछ भी दोष कुत्सित पंक हो
देदो सुशिक्षोद्गारिणी वाणी मुझे निःशंक हो।

(२)

पूर्वज हमारे हे हरे ! जिस प्रेमधारा में बहे
जिससे सदा संसार के सन्ताप को हरते रहे
बहते रहें हम भी उसी ही प्रेम की सद्धार में
बेड़ा हमारा प्राप्त हो आनन्द--पारावार में

प्रेम ।

(१)

मैं प्रेम के सन्मार्ग को मित्रों ! दिखाऊँगा अभी
बस, प्रेम का ही पाठ है इस ग्रन्थ में लिखना सभी
ऐसा न कोई जीव है जो प्रेम में बहता न हो
इस प्रेम के ही संग में जो सर्वदा रहता न हो

(२)

बहते हुए इस प्रेम-नद में जीव हैं लड़ते कभी
इस प्रेम के उद्गार से ही हम तथा हँसते सभी
रोते कभी संसार में हम प्रेम की वह मार है
इस प्रेम की ही ऊर्म्मियों[1] में बह रहा संसार है

(३)

हृद्[2] भूमियों में प्रेम यह उत्पन्न होता है सदा
सुख दुःख फिर उत्पन्न होते हैं इसी से सर्वदा
मन को अहो ! इस प्रेम वश ही हैं विपद पड़ती सभी
तो भी न तजता प्रेम को पल मात्र भी है मन कभी

(४)

इस प्रेम से ही आश है मन को सुखों की भी अहो !
फिर प्रेम को किस भाँति से मन छोड़ सक्ता है कहो !

१-लहरें । २-हृदय ।

सम्प्राप्त होता प्रेम का आधार है मन को जभी
होता मुदित यह मन अहा ! हे मित्र गण ! सब विध तभी

(५)

अप्राप्त होता प्रेम का आधार जब संसार में
मन डूबता तब तो यकायक कष्ट पारावार[2] में
प्रिय वस्तु का विच्छेद[1] ही संसार में है आपदा
रहती प्रधान स्वरूप से भव-कूप में जो सर्वदा

(६)

तात्पर्य—जग में सर्वदा प्रिय वस्तु होती नष्ट है
मन के लिए इस हेतु जग के प्रेम से बस, कष्ट है
हे बान्धवो ! हा ! यह जगत क्षण-भंगुरों[3] का मेल है
इस हेतु से सब भांति ही संसार दुख का खेल है

(७)

भव वस्तु में जितना अधिक मन प्रेम देता जायगा
भव वस्तु होगी नष्ट, मन उतना अधिक दुख पायगा
जितना अधिक यह प्रेम हो, जिस वस्तु में होगा जहाँ
सुख प्राप्त उसकी प्राप्ति से उतना अधिक होगा वहाँ

(८)

वह वस्तु जो कि हमें सदा लगती अहा ! प्रिय सर्वथा,
जिस वस्तु की सम्प्राप्ति से हम भूल जाते हैं व्यथा;

१–अलग होगा । २–संसार रूपी समुद्र । ३–शीघ्र नष्ट होनेवाले ।

वह जो हमें हे मित्र-गण ! सम्प्राप्त होजावे कहीं ;
फिर प्राप्त होकर नष्ट या विष्लिष्ट[1] हम से हो नहीं ।

(९)

तो प्राप्त कर उस वस्तु को आनन्द जो होगा महा,
उसकी नहीं सीमा मिलेगी, पूर्वजों ने भी कहा ;
सब से अधिक तो प्रेम अपने आप में होता अहो !
"मैं" रूप यह आत्मा सदा किसको नहीं है प्रिय कहो !

(१०)

हम क्यों कि यह हैं चाहते, हमको सदा सुख आश हो;
हम यह नहीं हैं चाहते कि कभी हमारा नाश हो ।
आनन्द आत्मा के लिए जिस वस्तु में मिलता जहाँ,
आत्मार्थ ही उस वस्तु को हम प्यार करते हैं यहाँ

(११)

भार्यादि निज जन प्रिय सभी लगते सदा अपने लिए,
अपने सुखों के हेतु ही सम्बन्ध उसने करादिए ।
अर्थात् हमारा प्रेम यह सब भाँति से आत्मार्थ है,
प्रिय अन्य भी होते हमारे यह कथन ही व्यर्थ हैं ।

(१२)

भावार्थ परम प्रेम आश्रय है सदा आत्मा कहा,
इस हेतु उसको प्राप्त कर आनन्द मिलता है महा,

१-अलग ।

है यह अमर भी क्यों कि यह सद्रूप माना है तथा,
हैं शास्त्र में निर्णय किया, सत्यत्व * इसका सर्वथा ।
(१३)
इस हेतु आत्म प्राप्ति से आनन्द जो मिलता महा,
निःसीम[1] ही आनन्द सच्चा प्राप्त होता वह अहा !
किस भाँति उस आनन्द की सीमा मिले मित्रो कहो !
मिलता चिदात्मा जब कि अव्यय[2] प्रेम का आश्रय अहो !

* प्यारे भाइयों ! व पूज्यवरो ! आत्मा का सत्यत्व निर्णय व दार्शनिक विषय (Subject of Philosophy.) है। पहिले तो इस विषय के लिये लेखनी उठानी उच्च श्रेणी के विद्वानों का काम है। मेरे समान क्षुद्र व्यक्तियों का नहीं । दूसरे, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार कुछ लिखता भी, पर, विषयान्तर होने की भीति से न लिख सका । अथवा यों कहना चाहिये कि जो इसी विषय को बढ़ा देता, तो जिस उद्देश्य को मैं इस किताब में प्रकट करना चाहता हूँ, वह बहुत दूर रह जाता ।

वाचक वृन्द ! मेरे समान अल्पज्ञ तो हैं ही किस गिनती में, जब कि भगवान श्री कृष्ण भी इस विषय पर गीता सुनाते समय " **नासतोविद्यतेभावोनाभावो विद्यतेसतः । उभयोरपिदृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥ अविनाशि तु तद्विद्धियेन सर्वमिदंततम् । विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति** " ॥ (अर्थात्, असद् वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती और सद् वस्तु का कभी भी अभाव नहीं हो सकता। तत्वदर्शी महात्माओं ने इन दोनों का अन्त देखा है, अर्थात् निर्णय किया है । इस से मानना पड़ता है कि जिस वस्तु से इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार हुवा है, वह नित्य और सत्य है । इसी से उसका कोई नाश नहीं कर

१ अपार, बेहद्द । २–नाश रहित, जिसका कभी नाश न हो ।

(१४)

निःसीम वह आनन्द है पर मुक्त जन पाते उसे,
भव बन्धनों को तोड़ते हैं, भव्य जन इस हेतु से।
बस; आत्म-दर्शन कर जगत में, जीव फिर आते नहीं,
पाकर उसे संसार का संताप फिर पाते नहीं।

सकता। इतना ही कह कर आगे को लपक गये। क्यों कि यदि श्री कृष्ण जी उस समय अपने व्याख्यान में इस विषय का सार मात्र ही कहकर आगे न बढ़ जाते, अर्थात् इस विषय का पूरा २ वर्णन करने लगते तो उन की वाग्धारा दूसरे ही मार्ग पर बहने लगती। और अर्जुन के हृदय की मोह रूपी कालिमा जिसको वे धोना चाहते थे, जैसी की तैसी रह जाती। इस लिये, प्रिय वन्धु गण, यहाँ तो इस विषय पर इतना ही समझ कर सन्तोष करना पड़ेगा, कि जिस वस्तु की इस समय सत्ता प्रतीत हो रही है, अथवा यों कहें कि जो वस्तु अभी वर्त्तमान है, वह पहिले अवश्य कहीं रही होगी। और फिर भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अवश्य रहेगी। जैसे हमारे ये शरीर जिन परमाणुओं के मेल से बने हुये हैं, वे (परमाणु) पहिले किसी न किसी रूप में अवश्य रहे होंगे। और भविष्य में भी कहीं तो रहेंगे ही। इस भांति मानना होगा कि जो चैतन्य सत्ता (आत्मा) हमारे शरीर में व्याप्त है, वह पहिले किसी न किसी लोक में रही होगी। और भविष्य में भी निस्सन्देह कहीं तो रहेगी ही!

इन सारे कथन का सारांश यह है कि जब असद् वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती। और जिस की सत्ता प्रतीत होती है, उस का कभी नाश नहीं हो सकता। तो यह स्वतः ही सिद्ध होता है कि इन जड़ शरीरों के भीतर "मैं हूँ" इस प्रकार समझने वाली जो ज्ञान रूप सत्ता (आत्मा) है, वह निश्चय ही नित्य सत्य है।

(१५)

जिस शक्ति को कर प्राप्त यों निःसीम सुख मिलता अहो !
उस तत्व को ही सर्वदा तुम ढूँढ़ते सब विधि रहो ।
सर्वत्र है वह व्याप्त, उसको ब्रह्म भी जानो सदा,
बनता वही जगदीश भी कहते जिसे कोई खुदा ।

(१६)

यद्यपि उसी के पास ही हर दम अहा ! हम हैं खड़े,
पर देखते उसको न हम, हैं मोह के पड़दे पड़े ।
भव वस्तु में सुख आश करनी यह जगत में मोह है,
इस मोह में आरूढ़ होना पूर्ण आत्म-द्रोह है ।

(१७)

भव वस्तु में सुख आश होती इन्द्रियों की प्रीति से
जग जाल में फँसते सदा हम हा ! इसी ही रीति से ।
इन्द्रिय विषय आसक्ति ही संसार में दुष्प्रेम है,
होता नहीं इससे हमारा हन्त ! आत्मक्षेम है

(१८)

दुष्प्रेम हमको सर्वदा हे बान्धवो ! भव शूल है,
आनन्द पद की प्राप्ति को सब विधि यही प्रतिकूल है ।
यद्यपि मनुष्य शरीर यह संसार में सुख फूल है,
दुष्प्रेमियों को किन्तु नर-तनु दुःख का ही मूल है ।

१-आत्मा की भलाई ।

(१९)

जितना अधिक नर देह में वे पाप करते जायँगे,
बस, कष्ट उतना ही अधिक देहान्तरों[1] में पायँगे।
इससे तुरन्त होवें विदा दुष्प्रेमि जन नर-देह से,
अथवा रहें सत्कर्म में संलग्न वे सु-स्नेह से॥

(२०)

दुष्प्रेम देता दुःख है पहिले इसी ही देह में
उत्पन्न होते रोग हैं, भव-भोग के ही स्नेह में।
दुष्प्रेम वश ही जन यहाँ अन्याय हैं करते कभी,
नृप-नीति से वे दंड को पाते यहाँ भी हैं तभी॥

(२१)

दुष्प्रेम ही से शौर्य्य भी तो नाश होता है सभी,
ऐश्वर्य भी अपना गँवाते हैं इसी से जन कभी।
दुष्प्रेम-पथ[2] आनन्द-पथ से सर्वदा प्रतिकूल है।
दुष्प्रेमि जन इस विश्व में सब ही दुःखों के मूल हैं॥

(२२)

संसार में सर्वत्र हैं, दुष्प्रेम के शिक्षक वही,
वे ही दुखित करते सदा, जब २ दुखित होती मही।
दुष्प्रेम वश सत्प्रेमियों से द्वेष करते वे जभी,
ऐश्वर्य शौर्य्यादिक उन्हीं के नाश होते हैं तभी॥

१-दूसरे शरीर में। २-मार्ग।

(२३)

लंकेश की दुष्प्रेम पथ पर बन्धुओ ! जब मति हुई,
है जानता संसार तब लंकेश की क्या गति हुई !!
नृप- इन्दिरा[1] के भोग-लोलुप क्या सुयोधन[2] ने किया,
धन धान्य जीवन तन सहित सर्वस्व अपना खो दिया !!

(२४)

दुष्प्रेम विष इस देश को उसने पिलाया है बड़ा,
जिससे अभी तक भी नहीं हा ! हो सका भारत खड़ा !!
दुष्प्रेम वश ही क्योंकि उसने वह महा भारत किया,
जिसमें किया निज नाश उसने और अपयश भी लिया ॥

(२५)

दुष्प्रेम से जयचंद देश-द्रोह में था रत हुआ,
जिससे अहा ! भारत हमारा और भी गारत हुआ !!
अन्याय भी जो जन जहाँ दुष्प्रेम पथ पर जब चले,
परिणाम तब उनको नहीं मित्रो ! मिले उसमें भले ॥

(२६)

दुष्प्रेमियों के मंत्र[3] से होते बुरे षड्-यंत्र हैं,
करते अनर्थ बड़े २ दुष्प्रेमियों के तंन्त्र हैं ।
थी केकई की बुद्धि बिगड़ी मंथरा के मंत्र से,
बस, दूर रहना बान्धवो ! दुष्प्रेम-युत षड् यंत्र से ।

१-राज लक्ष्मी । २-दुर्योधन । ३-गुप्त उपदेश ।

(२७)

जो २ अनर्थ जहाँ २ हा ! हो रहे हैं सृष्टि में,
दुष्प्रेम से ही हो रहे आता यही है दृष्टि में।
दुष्प्रेम मद को बन्धु गण ! अतएव तुम पीना नहीं;
इन्द्रिय विषय ही भोगने को जगत में जीना नहीं

(२८)

व्यापार है हाँ, इन्द्रयों के जीवनों के संग में;
रहते सदा हैं क्योंकि वे सब विधि हमारे अंग में।
इस हेतु इनको तो नहीं हम छोड़ हैं सकते कभी
पर हैं वही सद्रूप[1] में परिणत हमें करने सभी।

(२९)

भावार्थ–हम निष्क्रिय[2] जगत में हो नहीं सकते कभी,
कर्तव्य पर इससे क्रियाएँ चाहिएँ करनी सभी।
सत्प्रेम का अवलम्ब ले दुख सिंधु तरने चाहिएँ,
इन्द्रिय विषय आसक्त तजकर कर्म करने चाहिएँ।

(३०)

निःसंग[3] होकर कर्म करना बन्धु गण ! सत्प्रेम है,
सब भाँति इससे ही हमारा सर्वदा सत्क्षेम है,
संसार विषयाशक्ति को हैं त्यागते जब जन कभी,
कर्तव्य उनको याद अपना सर्वदा आता तभी॥

१–अच्छा रूप। २–क्रिया रहित, चेष्टा रहित। ३–निर्लेप, इन्द्रिय विषयों की आसक्ति से रहित

(३१)

सन्मार्ग में बहती उन्हीं की प्रेम-धारा है तथा;
देहान्त तक कर्तव्य पर वे कर्म करते सर्वथा।
भव भोग लिप्सा[1] त्याग कर जो कर्म करता है अहो!
अवतार उसको जानलो बस कर्मवीर[2] उसे कहो॥

द्वितीय-प्रवाह

गीता के कुछ वाक्यों का सार :—

(१)

भगवान यादव-नाथ ने गीता सुनाते था कहा,
तुम त्याग दो मद, मोह अर्जुन! कर्मवीर बनो महा;
हाँ, इन्द्रियों का धर्म है यह कर्म करने का अहो।
यह सोचकर तुम अब सदा सत्कर्म को करते रहो॥

(२)

निज वर्ण आश्रम धर्म में ही धैर्य धर आरूढ़ हो,
उसमें तुम्हें यदि कष्ट भी हों तो उन्हें सहते रहो
बस, वर्ण आश्रम धर्म पालन हीं यहाँ कर्त्तव्य है,
उपदेश भी देते हुए जग में यही वक्तव्य[3] है।

१—इच्छा। २—निःस्वार्थ कर्म करने वाला। ३—बोलने योग्य।

(३)

कर्त्तव्य का जब सर्वदा पालन करेंगे जन सभी,
तब तो किसी को भी जगत में दुख नहीं होगा कभी
जो प्रेम है कर्त्तव्य से हमको हटाता सर्वदा,
कहते उसी को मोह हैं जानो उसी को आपदा।

(४)

यह मोह ही है पाण्डु-सुत ! संसार में दुष्प्रेम है,
दुष्प्रेम से पाता नहीं हा ! जीव आत्मक्षेम है।
यह सोच कर अब मोह तज सत्प्रेम पथ पर पग धरो,
संसार को उपदेश दो तुम न्याय पूर्वक रण करो॥

(५)

क्लीवत्व[1] को त्यागो अभी कर्तव्य में संलग्न हो,
सम्बन्धियों को देख कर तुम मोह में मत मग्न हो।
हे पार्थ ! शीघ्र उठो २ यह क्लैव्य तुमने क्यों भजा ?
यह बाहुजों[2] का आज प्यारा चाप तुमने क्यों तजा !

(६)

सत्प्रेम के ही प्रेम रूपी धर्म रण में हो खड़े,
कर्तव्य का रख ध्यान भारत[3] अब रहो रण में अड़े।
आत्मा अमर है सर्वदा ही, यह अनित्य शरीर है,
इस लोक में परलोक में सुख भोगता जो धरी है,

१-हीजड़ा पन। २-क्षत्री। ३-अर्जुन।

(७)

निस्वार्थ होकर न्याय पर लड़ना तुम्हारा धर्म है,
दुष्प्रेमियों का नाश करना बाहुजों का कर्म है ।
यद्यपि दया है वीरवर ! सत्प्रेम का ही मूल है,
आनन्द पद की प्राप्ति को करुणा सदा अनुकूल है ।

(८)

तो भी जगत में दुष्ट जीवों पर दया करना नहीं,
इस भाँति के दुष्प्रेम पथ पर पद कभी धरना नहीं ।
जो जन जगत में दुष्ट जीवों पर दया करता अहो !
संसार में अर्जुन ! उसी को ही सदा निर्दय कहो ॥

(९)

जो दुष्ट हैं वे दुर्बलों को दुःख देते व्यर्थ ही,
जग–मोह में पड़कर वही करते अतीव अनर्थ ही ।
जो जान कर भी दुष्ट जीवों पर दया करते यहाँ,
उनके हृदय में सज्जनों के हित दया * है फिर कहाँ !

---

* मित्रो ! नवीन इतिहास भी तो इस बात को पुष्ट कर रहे हैं कि दुष्टों पर दया करने से दुष्परिणाम प्राप्त होता है । क्यों कि यवनों के राजत्व काल में हिन्दु जाति को जो असह्य यातनायें सहनी पड़ी हैं, वह भी दुष्ट पर की ही दया का फल मिला । यदि पृथ्वीराज उस दुष्ट मुहम्मदगौरी पर दया कर उस को जीत कर छोड़ न देता, तो इस भूमि में यवनों का राज न होता । और आर्य जाति को मुसलमान बादशाहों की अनीतियाँ न सहनी पड़ती ।

(१०)

संसार में सत्प्रेमियों पर जो दया करते नहीं,
जो सज्जनों के ताप को भर सक सदा हरते नहीं
ऐतिहासिक- सृष्टि[1] में तो क्रूरता ही गोद में,—
लेती उन्हें सब भाँति से होकर बड़े आमोद में।

(११)

नूतन वचन मेरे नहीं ये पूर्वजों के कथन पर,
मैं कह रहा हूँ इस समय वेदादिकों का मथन कर
इतिहास भी तो कर रहे मेरे कथन को पुष्ट सब
इतिहास को तू याद कर होजा तथा संतुष्ट अब।

(१२)

लो; मैं सुनाता हूँ तुम्हें चाहे तुम्हें मत याद हो;
सुनकर जिसे हे पार्थ! तुमको स्मरण निज मर्याद हो,
करने लगा दुष्प्रेम वश अन्याय लंकेश्वर जभी,
उसके विरुद्ध उठा विभीषण * शस्त्र लेकर था तभी

* कोईलोग विभीषण को राज- द्रोही बता देते हैं, पर मेरी समझ में वह राज-द्रोही न था। क्यों कि जो अपने स्वामी को यथा शक्ति अन्याय मार्ग से रोकने का प्रयत्न करता है, वह जन स्वामि-द्रोही नहीं, बल्कि स्वामि-भक्त है। जो विभीषण की भाँति द्रौपदी के चीर-हरण के समय भीष्म द्रोण आदियों में से कोई भी भले आदमी दुर्योधन के विरुद्ध शस्त्र उठा देते तो दुर्योधन अपनी गलती समझ जाता। और पाप पथ पर इतना आगे न बढ़ सकता, जितना कि द्रौपदी के चीर हरण के

१ –इतिहास की रचना में।

(१३)

नृप बन्धु भी होते हुए रावण विभीषण ने तजा,
अन्याय तज कौंतेय ! उसने न्याय-पथ को था भजा ।
तात्पर्य यह-जो देश में अन्याय हो करता कहीं
वह भूप ही अपना नहीं वह बन्धु भी अपना नहीं ॥

अनन्तर बढा । क्यों कि मेरी सभा में अन्याय पूर्वक द्रौपदी का अपमान किये जाने के कारण क्रोधित हुये पांडवों के भय से उसको पांडवों के विनाशार्थ बड़े षड् यन्त्र रचने पड़े, जिन का फल यह हुवा कि उसे पांडवों की रोषाग्नि में समूल भस्म होना पड़ा ।

प्रिय पाठको ! ऐसी राज भक्ति भी किस काम की हुई जिससे अपने राजा के यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जायँ । मित्रो ! चाहे अपना स्वामी अपने को मार ही क्यों न डाले पर सेवक को उचित है कि प्रत्येक बात में स्वामी की हाँ में हाँ न मिला कर उस को बुरे मार्ग से रोकने का प्रयत्न किया करे । जैसा कि महा कवि भारवि ने कहा है ।—

सकिं सखा साधु न शास्तियोऽधिपम् ।
हिताान्नयः संशृणुते स किंप्रभुः !
सदा नुकूलेषु हि कुर्वते रतिं—
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥

अर्थात्, वह मंत्री कुमंत्री है जो अपने स्वामी को (भय अथवा प्रयोजन वश) हित की बातें नहीं कहता । और वह राजा भी दुष्ट राजा है, जो अपने स्वामिभक्त सेवक का कथन (कड़वा होने पर भी) प्रेम पूर्वक नहीं सुनता । जहाँ राजा और मन्त्री परस्पर निष्कपट भाव से मिल कर काम करते है, वहाँ सब प्रकार की सम्पदायें वास किया करती हैं । यही

(१४)

इस हेतु से तुम मोह तज, रण से यहाँ पर मत डरो,
दुष्प्रेमियों का नाश कर तुम दुर्बलों का दुख हरो।
सब प्राणियों में सर्वदा सर्वत्र ईश्वर शक्ति है,
करना सबों का हित यही तो पूर्ण ईश्वर भक्ति है।

(१५)

है दुर्जनों को दंड देना दुर्जनों का हित अहो,
वे पाप से बचते तभी हैं, जब उन्हें कुछ दंड हो।
अब रोष को उत्पन्न कर तू दूर कर भूभार को,
इन दुर्जनों को दंड देकर दे सुखी संसार को ॥

बात महात्मा तुलसीदासजी कह गये है-" जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना, जहाँ कुमति तहाँ विपति निदाना " इस न्यायसे हरएक भले मानुप मंत्री का कर्त्तव्य है कि जो राजा मंत्री से हितोपदेश नहीं सुनता। उस की दी हुई प्रतिष्ठा उस के ही समर्पण कर अर्थात् वहाँ के धन मान के लोभ को पत्थर में धर कर वहाँ चला जाय। यही विभीपण ने किया था। क्यों कि रावण की महद् राज सभा (कौंसिल) में विभीपण ने भाषण देते हुये कहा था कि "मेरी राय"में यह आता है कि सीता को लौटा कर रामचन्द्र से सन्धि कर लेनी चाहिये"। पर, जब वह बात किसी ने नहीं मानी तो विभीपण ने आकाश मार्ग से जाते हुये यह कह कर लंका का परित्याग कर दिया कि"तुम्हारी सब की कु-बुद्धि होगई तुम हितोपदेश को नहीं सुनते। इसलिये स्पष्ट कह देता हूँ कि मैं तुम्हारी दुष्टता देखकर यहाँ से चलागया। मेरा इस में कुछ दोष नहीं "। अब कहिये! ऐसी दशा में हम उसे किस भांति राज-द्रोही बता सकते हैं।

(१६)

यद्यपि तुम्हारे बन्धु हैं ये सामने कौरव खड़े,
पर मारने के योग्य हैं ये आततायी[1] हैं बड़े ।
अन्याय को सर्वत्र ही प्रिय मानते हैं जो अहो !
यदि दंड उनको तुम न दोगे कौन देगा फिर कहो ?

(१७)

अन्याय जो करते रहेंगे दुष्ट ये कौरव यहाँ,
तो शांति को आश्रय मिलेगा इस समय बोलो कहाँ ?
इस तत्व से हे वीर वर ! सत्प्रेम पालन के लिए,
है कोप भी सत्प्रेम ही रक्खो उसे अपने हिये

(१८)

बलवान् और सबल जहाँ तक देखते हो सृष्टि में-
सब रीतियों से जो जहाँ आते तुम्हारी दृष्टि में ।
सम दृष्टि रखकर उन सबों में न्याय करना चाहिए,
बस न्याय पथ पर काल से भी तो न डरना चाहिए

(१९)

नृप-नीति की भी उक्ति है सम भाव रखने के लिये
उनके फलों को दो उसे जो कर्म जिसने हैं किये
कर्तव्य में अभिमान रख सम दृष्टि रखनी चाहिये
समभाव रूपी योग का फल पूर्णता से पाइये

1—अत्याचारी ।

(२०)

यद्यपि बताया शास्त्र में अभिमान ही अज्ञान को
कर्तव्य के हित किन्तु तुम रखना उचित अभिमान को
कर्त्तव्य पर अभिमान को हैं भव्य जन करते अहा !
अतएव था श्री राम ने श्री परशुधर[1] से यूँ कहा—

(२१)

यद्यपि कभी संसार के हम मोह में मरते नहीं
संग्राम में तो काल से भी पर, कभी डरते नहीं
था त्याग ही प्यारा सदा श्री राम को यद्यपि रहा
कर्तव्य का तो पर, उन्होंने मान ही रक्खा अहा !

(२२)

अभिमान बिन होता नहीं कर्तव्य का पालन अहो !
कर्तव्य से न हटूँ कभी अभिमान रख कर ही कहो।
कर्त्तव्य पथ पर भीति होना, ही महा दुष्कर्म है—
कर्त्तव्य को करते हुए ही देह तजना धर्म है।

(२३)

कर्त्तव्य में आरूढ़[2] हो तुम काल से भी मत डरो,
निष्काम होकर युद्ध करते धर्म का रक्षण करो।
मरना सभी को एक दिन उत्पन्न होकर के यहाँ,
प्राकृत जगत की वस्तुएँ हैं एकसी रहती कहाँ ?

१—परशुराम। २—तत्पर

(२४)

कर्त्तव्य पथ पर किन्तु मरना है उचित संसार में,
जिससे हमें आना न हो इस विश्व कारागार[1] में।
सब भाँति हम कर्त्तव्य में आरूढ़ होते हैं जभी।
लड्डू हमारे हाथ दोनों ओर से लगते तभी,

(२५)

कर्त्तव्य पथ पर जो सफलता प्राप्त हो जावे कहीं,
तो प्राप्त होवे राज्य सुख पहिले हमें सब विधि यहीं।
जो मृत्यु हो कर्त्तव्य पर जो कीर्ति हो नर लोक में-
नर-देह तज कर प्राप्त होवे मुक्ति पद पर लोक में

(२६)

यह सोच कर कर्तव्य पर ही प्रेम तुम करते रहो,
जिससे तुम्हें इस लोक में परलोक में भी दुख न हो।
है क्यों कि पूरा प्रेम यह आता जिस जिसके लिए-
उसके लिए वह प्राण देते भी नहीं डरता हिये ॥

(२७)

है जब पतंग प्रदीप में ही प्रेम कर्त्ता सर्वथा,
उस प्रेम वश वह भूलता प्राणान्त तक की भी व्यथा।
सरसिज-सुमन[2] के प्रेम में मरता मधुप भी है कभी,
सर्वत्र पूरे प्रेम से तनु मोह हैं तजते सभी ॥

१—कैदखाना । २—कमल का फूल ।

(२८)

पर जग विषय आसक्ति में जो जीव तनु तज जायँगे,
निज वासना से जन्म ले संसार में फिर आयँगे
भव भोग इच्छा मात्र केवल कर्म-बन्धन है यहाँ,
इस कर्म बन्धन के बिना तोड़े हमें सुख है कहाँ

(२९)

इससे जगत का प्रेम यह सब भाँति दुख का मूल है,
सर्वत्र हा ! हा ! बुद्धि में पड़ती इसीसे भूल है,
कर्त्तव्य करने के लिए जब प्रेम पूरा आयगा।
आनन्द-सागर मार्ग[1] को यह जीव तबही पायगा।

(३०)

इन्द्रिय सुखों में जोड़ते जिस भाँति विषयी स्नेह को
जिस विधि विषय के लोभ में वे त्यागते हैं देह को।
कर्त्तव्य पालन के लिये उस भाँति आवे प्रेम जब
नर देह कर्म क्षेत्र में यह जीव पावे क्षेम तब-

(३१)

कर्त्तव्य का ही पालना मनु ने बताया तप अहा !
कर्त्तव्य के उपदेश को ही हे परंतप[2] ! जप कहा।
कर्त्तव्य पर ही देह तजनी पार्थ[3] ! उत्तम दान है।
कर्त्तव्य का अभिमान ही सब भाँति ब्रह्मज्ञान है।

१—ईश्वर प्राप्ति का मार्ग। २—अर्जुन। ३—अर्जुन।

(३२)

कर्त्तव्य में संलग्न रहना ही समाधि समझ सदा,
कर्त्तव्य पालन ही जगत में सीखना है सर्वदा
कर्त्तव्य पथ पर प्रेम कर होगे सुखी परलोक में
होगा यहाँ भी दुख नहीं प्राणान्त तक के शोक में

(३३)

इस तत्व से कर्त्तव्य पर ही तुम बहावो प्रेम को
तनु मोह तज, जिस भाँति से तुम प्राप्त होवो क्षेम को
तनु मोह की आधीनता को त्याग कर तुम रण करो
आनन्द पद की प्राप्ति का अब आज ही से प्रण करो

(३४)

आधीनता सम दूसरा भी कष्ट क्या होता कहो !
आधीनता होती सदा तनु मोह में ही लीन हो
आधीन होना अन्य के पशु-योनियों का काम है
स्वच्छन्दता[1] पाना सदा पुरुषार्थ इसका नाम है

(३५)

हे भव्यजन ! जो मुक्त हैं वे जीव ईश समान हैं
यह पूर्व भारतवर्ष का हे वीर भारत ! ज्ञान है
तनु मोह राक्षस मारकर तुम शूर वीर बने रहो
संसार सागर में तुम्हें जिससे कभी भी दुख न हो

१—स्वतन्त्रता । आजादगी ।

(३६)

सद् रीति ज्ञान कृपाण[1] से स्वच्छन्दता रखते रहो
स्वाधीनता का स्वाद अर्जुन सर्वदा चखते रहो
दुष्प्रेम जग का मोह तज, सत्प्रेम पथ पर पग धरो
आनन्द पद के लाभ को सद् धर्मता युत रण करो

(३७)

मैं यह नहीं कहता कि जग में शान्ति का तू ह्रास कर
अथवा कलेवर[2] का जगत में व्यर्थ ही तू नाश कर
मेरा कथन तो है कि तू कर्त्तव्य में मत भीति कर
निज कर्म में आरूढ़ हो निज पूर्वजों की रीति कर

(३८

आपत्ति को अवलोक कर तुम भीत मत होना कभी
दुष्प्रीति रूपी भीति से निज नीति मत खोना कभी
सु-विचार का अवलम्ब लेकर धीरता धरते रहो
कौन्तेय[3] ! अपने कष्ट को स्वयमेव तुम हरते रहो

(३९)

आनन्द रूप बने रहो सब भाँति से तुम सर्वदा,
दुख शोक इस संसार के जिस हेतु तुमसे हों बिदा।
ऐश्वर्य पाकर भी कभी हाँ, मद न होना चाहिए,
मानव जनन[4] की प्राप्ति का शुभ फल न खोना चाहिए

१—तलवार। २—शरीर। ३—अर्जुन। ४—जन्म।

(४०)

सम भाव रखना सुख दुखों में पूर्ण जीवन मुक्ति है,
वेदान्त का सिद्धान्त है, यह पूर्वजों की उक्ति है।
मुक्त हो विचरो तथा, सत्प्रेम फैलाते रहो,
आनन्द सागर के लिए सत्प्रेम-धारा में वहो।

(४१)

सारांश यह-संसार में तू कर्म जो कुछ कर रहा,
जग जाल से उनको छुड़ा आनन्द-सागर में बहा।
हे पार्थ! चिर आनन्द पद की प्राप्ति के उत्सुक रहो,
क्षणभंगुरों का प्रेम तज सत्प्रेम—धारा में बहो।

(४२)

यदुनाथ ने जब यों कहा वेदान्त का सिद्धान्त था,
सुनकर जिसे उद्भ्रान्त पांडव होगया अब शान्त था
वस पार्थ के ही व्याज से उपदेश सबको दिया
बहु काल से जो लुप्त था, वह ज्ञान उज्जीवित किया।

॥ इति ॥

ॐ

तृतीय प्रवाह ।

आर्य्य माता का उपदेश ।

(१)

जिस ज्ञान से मित्रो ! महा भारत समर के आदि में-
अर्जुन निपुण था कर दिया श्री कृष्ण ने धैर्य्यादि में ।
थीं जननियाँ भी दे चुकीं, पहिले हमें उस ज्ञान को,
सब भाँति रखने के लिए मनुजत्व के अभिमान को

(२)

श्री राम जी के संग में वनवास को जाते हुए,
संसार को सब भाँति से सत्प्रेम सिखलाते हुए ।
सौमित्र का जो मित्र गण ! माँ से हुआ सम्वाद था,
लिखनी पड़ेगी इस विषय पर आज मुझको वह कथा

(३)

आज्ञा पिता का पालने को रामजी वन के लिए—
चलने लगे जब धैर्य्य धर सत्प्रेम रख अपने हिये,
सौमित्र ने सोचा तभी मैं भी अवध में क्यों रहूँ ।
श्री रामजी के संग ही में क्यों न वन के दुख सहूँ ?

(४)

वनवास तक वन में रहूँगा, राम जी के पास में—
लक्ष्मण विदा लेने गया माँ से तथा इस आश में
जब वह विदा लेने गया तब सोचता था यों वहाँ
यदि माँ मुझे आज्ञा न दे तो हे प्रभो जाऊँ कहाँ।

(५)

यह सोच वह कुछ देर तक सन्देह–नद में बह गया,
माँ को प्रणाम किया कि बस चुपचाप ही फिर रह गया।
पर हा ! इसे दुख है महा, उसकी विकलता ने कहा,
जल पूर्ण उसके नयन थे मुर्छित कमल सा मुख रहा !

(६)

हा ! जब अचानक ही उसे था, यों विकल देखा महा,
तब तो सुमित्रा ने स्वयं निज पुत्र से इस विधि कहा।
" लखकर तुझे सुत ! इस समय आश्चर्य होता है बड़ा,
दुख युक्त चित्रांकित सदृश इस भाँति तू क्यों है खड़ा ?

(७)

हे पुत्र ! तेरी विकलता व्याकुल मुझे भी कर रही,
मेरे हृदय के हर्ष को है यह यकायक हर रही।
हा ! हाय ! इस उत्सव दिवस में आज तुझको शोक क्यों ?
तुझको नहीं है हर्ष दिन में हर्ष का आलोक क्यों ?

(८)

युवराज होंगे राम यह, सुन कर सबों को सुख हुआ
ऐसे समय में पुत्र हा ! हा ! क्यों तुझे यह दुख हुआ
उद्विग्नता क्यों है तुझे निःशंक हो मुझसे कहो
सुन यूँ वचन माँ के हुवा लक्ष्मण अधिक व्याकुल अहो !

(९)

जो शोक पहिले था छिपा उसके हृदय ही कूप में,
वह अब प्रकट बाहिर हुआ हा ! अश्रुओं के रूप में।
यूँ देख सुत को वीर सू¹ भ्रम-ऊर्मि में थी वह वहीं,
पर पुत्र के हृद्भाव तट की प्राप्ति की उत्सुक रही।

(१०)

इस हेतु से कहने लगी तू पुत्र क्यों है रो रहा ?
हा ? हाय ? तू इस भाँति क्यों है आज कायर हो रहा।
प्रत्यक्ष ही मुझ से कहो ? यदि आगई हो आपदा,
विपदा पड़े पर भी जगत में धैर्य्य रखना सर्वदा।

(११)

इस विध विकल होना कहीं क्या वीर जन का धर्म है,
क्या आपदा को देख डरना बाहुजों का कर्म है।
निज जाति गौरव को न भूलो मत बनो व्याकुल अहो ?
यदि हो बड़ी ही आपदा तो राम से जाके कहो !

१—वीरमाता।

(१२)

भ्राता सभी हिल मिल चलो ! सत्प्रेम धारा में वहो
इस भाँति जंगल भी तुम्हे मंगल सदा होगा अहो ?
उत्सव मनावो शीघ्र ही तुम आपदा को नाश कर
निज कर्म में संलग्न हो अब हर्ष को मत हास कर

(१३)

सुत को सुमित्रा सान्त्वना के वाक्य थीं जब कह रहीं,
सौमित्र की तब अश्रुधारें थीं बराबर वह रही
कंठा वरूद्धक[2] अश्रु जब कुछ कंठ से बाहिर हुए
सौमित्र के हृद कुम्भ से वाग्विन्दु तब यूँ थे चुये

(१४)

हे माँ ! हमारा हर्ष दिन तो दूर हा ! हा ! अब गया,
साकेत[1] में कुछ देर में अब दृश्य देखोगी नया ।
पड़ वचन बन्धन पिताजी ने सुनो माँ क्या किया.
श्री राम को वनवास चौदह वर्ष का हा ? दे दिया ।

(१५)

है आज निर्वासन हुआ श्री राम का विन दोष से,
इससे जननि ? मेरा हिया है जल रहा बस, रोष से
माँ कैकेई ने भूप से करवा दिया यह कर्म है
उनको तिरस्कृत भी करूँ क्या यह नहीं निज धर्म है ?

१—अवध । २—कंठ को रोकनेवाला ।

(१६)

श्री राम से विद्वेष कर्ता अन्य होते जो कहीं,
तो काल से भी रण किये बिन मानता माँ मैं नहीं।
दशरथ समान नरेश के वे पुत्र हैं प्यारे महा,
असहाय होकर किन्तु अब जाते विपिन को हैं अहा।

(१७)

वन में असंख्य अनर्थ कारी जीव हैं रहते बड़े
किस विध रहेंगे वे सदा उनसे अकेले ही अड़े
विपदा उन्हें जब आयगी, तब कौन देगा सान्त्वना[1]?
वन में सदा असहाय को सब राह से है दुख घना

(१८)

घर में रहेंगे हम सुखी दुख राम वन में पायँगे,
देखा न माँ यह जायगा, जब राम वन को जायँगे
साकेत सारा रो रहा है देख वन जाते जिन्हें
हा! हा! अवध उनके विना अब यह सुहाती है किन्हें

(१९)

ऐसे सुशील सुधर्म रत सद्बन्धु को कैसे तजूँ
नर धर्म तज कर भोग ही पशु धर्म को कैसे भजूँ
अतएव मैं श्री राम के ही संग जाऊँगा अभी
नर जन्म के हे जननि! मुझको फल मिलेंगे अब सभी

१—ढाढस, धैर्य

(२०)

हूँ मैं विदा लेने खड़ा आज्ञा मुझे माँ दीजिये
मुझको विदा देकर अभी संसार में यश लीजिये
सत्कार्य करवाती सुतों से आर्य मातायें सभी,
यह सोच कर सुत मोह तज मुझको विदा दो माँ अभी

(२१)

सुत के वचन सुनकर सुमित्रा होगई विस्मित बडी,
निस्तब्धता[1] से रह गई हा ? हाय ? करके वह खडी
सुत बुध सभी वह भूल कर इस भाँति से थी होगई
कहते न उससे कुछ बना मानो यकायक सो गई

(२२)

" सुख कान्ति दुख की ओर सारी अब हमारी झुक गई
कहना बहुत हूँ चाहती पर भारती अब रुक गई,
तोभी मुझे कहना पड़ेगा कुछ हृदय करके कड़ा
जिस तत्त्व से मेरे तनय को धैर्य्य हो जावे बड़ा "

(२३)

यद्यपि हृदय उसका हुवा था शोक से व्याकुल बड़ा
पर उक्त बातें सोच कर धीरज उसे धरना पड़ा
कहने लगी हे पुत्र ? जगमें पुत्र से प्यारा अहो ?
है कौन ! बोलो ! फिर तुम्हें तजते मुझे दुख क्यों न हो

१-शुन्यता निश्चलपना ।

(२४)

पर वन गमन को इस समय कहती तुम्हें मैं ना नहीं
कर्तव्य से तुमको हटाना धर्म यह मेरा कहीं !
परमार्थ-पथ पर जब तुम्हारा प्रेम है ऐसा अहो ?
इस धर्म पथ पर तो तुम्हें क्यों में बनूं कंटक कहो ?

(२५)

सद् धर्म पथ पर सज्जनों का साथ देना धर्म है
सत्प्रेम ही कहते इसे जगमें वही सत्कर्म है।
सिद्धान्त मेरा भी यही रखना इसे तुम ध्यान में
आरूढ़ हो रहना सदा मनुजत्व के अभिमान में

(२६)

तुम सज्जनों की आपदा में संग देना सर्वदा
ध्रुव[1], सज्जनों की आपदा ही मानना निज आपदा
संसार में हैं प्रेम से ही जीव मरते जन्मते
सत्प्रेम पथ पर मरण पाना पर, कठिन है सन्मते ?

(२७)

इस बात को धर ध्यान में जो दुःख भी भजने पड़ें
इससे अधिक मैं क्या कहूँ जो प्राण भी तजने पड़ें
तो भी नहीं हटना कभी तुम सज्जनों के साथ से
हे सुत ! सु अवसर मत गँवाना तुम कभी भी हाथ से

१—निश्चय।

(२८)

रण धीर हो भू भार हरना सज्जनों का धर्म है
सच जानियों तुम क्षत्रियों का मुख्य ही यह कर्म है
निज जन्म भू की आपदा को नाश करने अर्थ ही
हैं दुख उठाते पुत्र प्यारे ? कर्म्मवीर समर्थ ही

(२९)

अतएव पुत्र ! विलास के वे ग्रास भी होते नहीं
जाते जहाँ वे शूर हैं सुख शान्ति होती है वहीं
सुख शान्ति संस्थापक जनों का साथ देना भी अहा ?
है भाग्य शाली नर वरों का काम यह जानो महा

(३०)

इस नीति को रख याद तुम सेवा करो श्री राम की
सत्प्रेम पालक पुरुष की रघु केतु करुणाधाम की
मुनि यज्ञ रक्षा के लिए जिसने भयंकर रण किया
सीता स्वयंवर में स्वयम् जिसने महा यश है लिया

(३१)

पर दीन रक्षण के लिए जाता विपिन[1] चुप चाप ही
सत्प्रेम पालन को प्रथम दुख है उठाता आपही
तात्पर्य यह श्री राम तो सब भाँति यद्यपि शक्त है
पर दीन करुणा सक्त है वह सत्य में अनुरक्त है

१—वन ।

(३२)

इस हेतु से वन की प्रजा को पालने के हित अभी
चुप चाप वन को जायगा वह छोड़ देगा सुख सभी
पर, धिक् हमें जो इस समय बैठ रहें घर में सुखी
राजीव लोचन राम वह वन में बनेगा जब दुखी

(३३)

हाँ वह अलौकिक गुण भरा है शक्तियों से युक्त है
भव दुःख है उसको नहीं जग मोह से उन्मुक्त है
पर, इस समय असहाय हो, यदि वह विपिन को जायगा
किसका न तो इस बात को सुन कर गला भर आयगा

(३४)

हा ! हा ! हमारा राम वह सब सद् गुणों की ख़ान है
यद्यपि हमारा पुत्र है पर, ज्ञान में भगवान है
इससे तनय शुभ ज्ञानमय सत्प्रेम पालक राम को
छोड़ो न तुम पल मात्र भी ध्रुव, सत्यता के धाम को

(३५)

जीवन सफल करते रहो ? भव दुःख अब अपना हरो
तुम हे धनुर्धर ? धर्म पथ पर धैर्य्य को धारण करो
साकेत तुम मानो वहाँ श्री राम जाते हैं जहाँ
स्व-प्रिय जनों की संग में परदेश है जग में कहाँ

(३६)

पितृ तुल्य ही श्री राम जी श्री जानकी जननी समा
होंगे जहाँ तेरे लिए वह भूमि होगी उत्तमा
पड़ता समय किस पर नहीं जग जाल में फँस कर अहो ?
है काल का क्रम छोड़ता संसार में किसको कहो ?

(३७)

यह सोच कर आपत्ति का तो शोच मैं करता नहीं
पर दुख मुझे होता तभी सुत क्रूर होते जो कहीं
श्री राम हित जब पुत्र तुम से प्रीति यूँ दर्शित हुई
यह देख के प्रिय पुत्र ! अब मैं बहुत ही हर्षित हुई

(३८)

है क्यों कि वह सत्प्रेमता इससे मुझे अब शान्ति है
मम जन्म भी होगा सफल इससे मिटी मम भ्रान्ति है
रमणी सुतवती है वही ध्रुव जानलो जगती तले !
सत्प्रेम का फैलाव कर्ता पुत्र हों जिसके भले

(३९)

सत्प्रेम पथ चलते हुए यह लोक ही सुत स्वर्ग है
सत्प्रेम से देहान्त में मिलता सदा अपवर्ग है
भावार्थ यह—सत्प्रेम के अवलम्बबिन है सुख नहीं
इस लोक में उस लोक में सत्प्रेम से, है दुख नहीं

(४०)

वह वीर गण रण-अध्वरों[1] में देह करते होम हैं
पीते अमर पद के लिए सत्प्रेमरूपी सोम हैं
सतियाँ सती होतीं तथा सत्प्रेम के ही सार से
उनको न होता मरण दुख सत्प्रेम के आधार से

(४१)

देहान्त में जातीं जहाँ आनन्द पाती हैं वहीं
सत्प्रेम में वह कर कभी भी वे दुखी होती नहीं
वस, आज इस सत्प्रेम से ही राज्य तजता राम है
ऐसे समय पर पुत्र ? तेरा अवध में क्या काम है

(४२)

मौका तुम्हें सुन्दर मिला जीवन सफल कर इस समय
ऐसा सु-अवसर भी कदाचित् ही मिलैगा फिर तनय
सुत ! इस समय वनवास को आनन्द पद जानो महा
अब कह चुकी मैं भी तुम्हें जो कुछ मुझे कहना रहा

(४३)

उपदेश मेरा याद रखना भक्ति युत संसार में
बहते रहो तुम सर्वदा सत्प्रेम की ही धार में
इससे तुम्हें आनन्द पद की प्राप्ति होगी हर कहीं
तेरे मनोमय राज्य में फिर दुःख आवेगा नहीं

१—यज्ञ।

(४४)

सत्प्रेम वश आनन्द से होंगे विपिन दुख सहन सब,
लो, मैं विदा देती तुम्हें जावो खुशी से गहनं अब।
आशीष भी देती तथा मंगल तुम्हारा हो सदा,
जो आपदा आवे तुम्हें वह भी बने बस सम्पदा।

(४५

नर देव सम्भवं ? बन्धुओं ? वरं वीर लक्ष्मण तो अहा ?
वन के लिए यद्यपि स्वयम् सब विध समुत्साहित रहा ?
तो भी सुमित्रा ने विपद में धर्म के उपदेश को
देना उचित समझा उसे जाते हुए पर देश को

इतिः—

चतुर्थ-प्रवाह।

प्राचीन भारत की कर्मवीरता।

(१)

जब पूर्व भारतवर्ष में उपदेश इस विधि त्याग का
होता रहा नर जन्म फल की प्राप्ति के शुभ यागं का
तब तो रहे भारत मही में धर्म धीर बड़े बड़े
कर्त्तव्य पर जो काल के भी सामने रहते अड़े

१—वन। २-राजपुत्र। ३-यज्ञ।

(२)

थी प्राण से भी प्रिय जिन्हें सब भाँति से परमार्थता
पाली जिन्होंने प्राण दे, निःशंक हो निःस्वार्थता
उनके चरित्रों का नमूना एक ही वृत्तान्त से
संक्षिप्तता से ही कहूँगा आज निज सिद्धान्त से

(३)

दिखला गये खग[1] भी यहाँ अपनी अलौकिक वीरता
बिन स्वार्थ जो सत्प्रेम पर तनु तज गये धर धीरता
खग कर्मवीर जटायु कैसा भाग्यवान हुवा महा
है राम के गुण गान में गुण गान जिसका हो रहा

(४)

निज कृत्य से विख्यात है संसार में वह आज तक
गुण गान उसका कर रहे हैं आज भी भू राज तक.
किस भाँति उसका त्याग था कैसी रही उसको दया
खग योनि भी होता हुवा आदर्श जीवन[2] हो गया

(५)

ले जा रहा लंकेश था हा! जानकी को चोर कर
श्री जानकी थी रो रही हा! राम हा! हा! शोर कर
वह दैत्य था आकाश में हे बान्धवों! पहुँचा वहाँ
हा! खेचरों[3] को भी हुवा था पहुँचना दुर्लभ जहाँ

१-पक्षी। २-जिसके जीवन के चरित्र संसार में अनुकरण करने के योग्य हों। ३-आकाश में उड़नेवाले।

(६)

अब भूचरों¹ की तो वहाँ फिर दाल ही गलती कहाँ
बहुविधि विलाप प्रलाप कर रोती रही सीता जहाँ
यों देख, उसकी दीनता थे पाक्षि पशु भी रो उठे
श्री जानकी के दुःख से संतप्त सारे हो उठे

(७)

उस काल में हा ! हा ! भयंकर गूँज यों थी हो रही
स्वयमेव दंडक वन मही है आज मानो रो रही
इस विधि लखा जब उस विहग² ने जन्म भू पर दुख पड़ा
तब तो उसे होना पड़ा था उस समय लड़ने खड़ा

(८)

असुरेश तो यद्यपि बड़ा ही ध्रुव धनुर्धर धीर था
सब भाँति से संग्राम पंडित शक्ति शाली वीर था
खग तो प्रथम खग ही रहा, वह दूसरे से वृद्ध था
लंकेश से रण के लिए मित्रो ! बड़ा असमर्थ था—

(९)

तो भी मचा ही था दिया रण पूर्ण उस खग ने वहीं
कर्त्तव्य पर क्या भव्य जीवन मृत्यु से डरते कहीं।
बस, न्याय पर लडते हुये कुछ भी नहीं पीछे हटा
सद्भाव वह दिखलागया यद्यपि वहीं पर है कटा

१-पृथ्वी पर चलने वाले। २ पक्षी।

(१०)

हाँ यह भयंकर दैत्य है इससे डरे हैं देव भी
यद्यपि रहा वह जानता इस बात को स्वयमेव भी
पर, जन्म भू के बन्धुओं ! उस कष्ट नाशन के लिये
कर्तव्य को पहिचान कर स्वप्राण उस खग ने दिये

(११)

वह धन्य, जिसने जन्म ले निज देश के दुख हरदिये
अथवा उसी के हेतु जिसने प्राण अर्पण कर दिये
इस भाँति के जो जीव हैं वे धर्म के अवतार हैं
तरते वही प्राणी सहज में विश्व-पारावार[१] हैं

(१२)

देखो जटायु खगेश भी कैसा समय शुभ पा गया
निज जन्म भू का ऋण चुका कर लोक में यश छा गया
यद्यपि क्षणिक संसार जीवन-दीप उसका बुझ गया
पर है जगत में स्वच्छ अब भी कीर्ति तनु उसका नया

(१३)

गुणगान जब तक बन्धुओं ! होता रहेगा राम का
जब तक रहेगा नाम भी रघुकेतु करुणा धाम का
उस देश भक्त जटायु के हा ! शोक में व्याकुल बने
रोते रहेंगे धर्म-रत-जन याद कर कर के छने

१-संसार समुद्र।

(१४)

हा ! हा ! जटायु समान अब इस भूमि के सुत हैं कहाँ
जो देश गौरव पालने को तज गये तनु हैं यहाँ
वह तो जटायु विहंग था जो देश सेवा में मरा
हे बन्धुओं ! हम मनुज होकर क्या हुये देखो जरा

(१५)

आओ अभी भी भाइयों ! हम कर्म वीर बने सभी
जिससे हमें संसार रण में दुख न होवे फिर कभी
ध्रुव प्रेम सच्चा है वही जिसमें नहीं कुछ स्वार्थ हो
हाँ स्वार्थ होतो परम -पद की प्राप्ति के ही अर्थ हो

(१६)

वेदान्त दर्शन देख लो षड़ शास्त्र तुम अवलोक लो
है सार यह–भवबन्ध को योगाग्नि में ही झोंक दो
बन कर्मवीर यहाँ सदा उपकार करना चाहिये
आरूढ़ होकर योग में भू–भार हरना चाहिये

(१७)

प्राचीन भारत भूप सब इस तत्व के मर्मज्ञ † थे
जन्में यहाँ जन्मे जयादिक नृप सभी धर्मज्ञ थे
निज देश–सेवा के लिए ही राज्य जो करते रहे
जो भूल कर भी तो नहीं इन्द्रिय विषय सुख में बहे

†–प्रिय बन्धुओं ! कोई इस शंका को उठावे कि प्राचीन भारत वर्ष के इतिहासों में पाया जाता है कि पहिले भारत में अन्यायी राजा भी राज

(१८)

इस देश में भूपति रहे जब देश भक्त बड़े अहो !
तब अन्य जन भी क्यों न होते देश सेवक यह कहो
इस से अधिक मैं क्यों कहूँ खग की कथा तक कह गया,
निज देश सेवा स्रोत में खग भी यहाँ पर बह गया

कर चुके हैं। फिर यह बात कहाँ रही, कि प्राचीन भारत के राजा भोग के लिये राज्य ग्रहण नहीं करते थे। बल्कि प्रजा को सुख शान्ति के लिये ही राज-शासन भार को उठाया करते थे। इस के उत्तर में मैं यह कहूँगा, कि जिस राजा में प्रजावत्सलता, नहीं पाई जाती थी, आर्य लोग उस को अपना राजा नहीं मानते थे। बल्कि प्राचीन भारत के इतिहास उस को कपटी कुटिल और राक्षस करके पुकार रहे है। और जिस को आर्य लोग अपना स्वामी समझते थे उसमें अवश्य प्रजारंज कारक गुण होते थे कालीदास कृत रघुवंश को आप आद्योपान्त पढ़ जाइये। आप को उस में सभी रघुवंशी राजाओं की अलौकिक शूरवीरताओं के साथ न्यायशीलता का और अवर्णनीय विभूतियों के साथ विरक्तता का वर्णन मिलेगा। फिर ऐसी दशा में हम क्यों न कहें कि रघुवंशी भूप प्रजा पालन के लिये ही राज्य शासन किया करते थे। कालीदास ही क्या, प्राचीन अन्य कवियों ने भी रघुवंशी सम्राटों का उच्च कोटि का त्याग और राज धर्म नीतिज्ञत्व बताया है। देखिये ! भवभूति ने अपने "उत्तर राम चरित" नाटक में रामचन्द्र जी के प्रण का उल्लेख किस प्रकार किया है। जब वाशिष्टजी ने रामचन्द्रजी के लिये कहला भेजा कि हे राम !

"त्वम्बाल एवासि नवं च राज्यम्"

अर्थात् तुम अभी बालक ही हो राज्य तुम्हें नवीन मिला है ऐसा न

(१९)

अभिमान उस खग तुल्य भी होता हमें जो देश का
तो भूमि भारत में न होता नाम भी फिर क्लेश का
निःशंक हो, अथवा विनय यह एक करनी चाहिये
हे देश भक्त जटायु फिर अवतार होकर आइये

हो कि तुम राज्यैश्वर्य में भूल कर प्रजा की उपेक्षा कर डालो। उसके उत्तर में रामजी निवेदन करते हैं कि गुरो!

स्नेहं दयाञ्च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा" ॥

अर्थात् मुझे अपना प्रजा की सेवा करने में स्नेह, दया और सौख्य को भी तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी तो दे दूंगा, पर प्रजा को दुःख न होने दूंगा। हे गुरु देव! इस से अधिक मैं क्या कहूँ यदि मुझे सब से प्यारी अपनी प्रिया जानकी भी प्रजा की सुख शान्ति के लिये तजनी पड़ेगी, तो बे-खटके तज दूंगा पर प्रजा की शान्ति में बाधा न पहुंचने दूंगा। इसी तरह रामायण में वन जाते समय लक्ष्मणजी को समझाते हुये श्रीराम जी के मुख से कहलाया है कि "हे भाई! मुझे जरा भी शोक इस बात का नहीं कि मैं विना अपराध नंगे पैरों, भिखारी वेष में निकाला जा रहा हूँ। मुझे जरा भी भय नहीं कि मैं निर्जन वन को वास करने के लिये जा रहा हूँ। मुझे राज्यैश्वर्यों के छूटने का कोई खेद नहीं। मुझे कुछ भी उद्विग्नता नहीं कि मैं अकेला वन को जा रहा हूँ। मुझे अपने इस अपमान का कुछ दुःख नहीं। मुझे यह भी चिन्ता नहीं कि आपत्ति पड़ने पर मेरी कौन सहायता करेगा। यह मोह भी मेरे चित्त में नहीं कि मैं अपने कुटुम्बियों को कैसे छोड़ूंगा। पर हे लक्ष्मण! मुझे यह बात बारम्बार याद आ रही है कि प्यारे भाई भरत, और शत्रुघ्न, घर में नही हैं, राजा एक तो वृद्ध हैं, दूसरे उनको मेरा दुःख

(२०)

तुम से सुतों को याद कर यह पुण्य भू है रो रही
बहु पुत्र भी होते हुये वन्ध्या सदृश है हो रही
अथवा स्वयम् तज दे सभी जो कुछ हमें तजना पड़े
पर देश-सेवा अर्थ होवें बाँध परिकर हम खड़े

होगया है, इस लिये वे तो इस समय प्रजा पालन में असमर्थ हैं और मुझ को वन की आज्ञा होगई है। ऐसी दशा में यदि तुम मोह बश हठ करके मेरे साथ वन को चलोगे तो अयोध्या सब प्रकार से अनाथ हो जायगी। और हमारी प्यारी प्रजा जिस का रक्षण हमारे पूर्वजों ने बड़ी कठिनाइयों को झेल कर किया है वह विना पालन-कर्त्ता के नाना भांति के कष्ट पाये विना नही रहेगी। जिस का परिणाम यह होगा कि हम अपने प्रजा पालन रूप कर्त्तव्य को छोड़ने के अपराध में नरक के अधिकारी होंगे। अर्थात् ईश्वरीय न्याय से दंडनीय होंगे। क्यों कि अपने सुख दुःखों की ओर ध्यान न देकर प्रजा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है"। इत्यादि बातों से रामचन्द्र जी में जितनी कर्त्तव्य परायणता प्रतीत होती है, रामायण के देखने से ज्ञात होता है, कि उन के भाई भरतादिकों में भी उन से कम निःस्वार्थता नहीं थी। और राजा दशरथ के लिये तो कहना ही क्या है!। जिन्हों ने संसार को सत्य सिखाने के लिये सब से प्यारा जीवन ही त्याग कर दिया। और इसी तरह महाभारत इतिहास से भी स्पष्ट विदित होता है। अजात शत्रु, धर्मराज युधिष्ठिर के समान सत्य शिक्षक राजा ने किसी अन्य देश में हुवा और न होगा और कृष्ण महाराज सरीखे दीन दयालु भूप का भी अन्य देशों में होना सर्वथा ही असम्भव है, राज्यैश्वर्य का कुछ भी अहंकार न कर, केवल दया के ही कारण जो एक दरिद्र सुदामा के पैरों में गिरपड़े थे,। प्रिय पाठको! बहुत दूर न जाइये। वीर विक्रमादित्य राजा

हमारा कर्त्तव्य।

(२१)

भीतर अँधेरे में नहीं अब मुख छिपाना चाहिए
वाहर निकल कर जन्म भू के ऋण चुकाने आइये
निज जन्म भू का ऋण हमारे शिर रहेगा जो कहीं
संसार कारागार से हम मुक्त होंगे तो नहीं

(२२)

जो जन्म भू का ऋणं चुका, नर देह से हम जायँगे
लोकान्तरों में तो सदा आनन्द पद को पायँगे
नर देह तक ही है समय जग में उपार्जन का अहो ?
सत्प्रेम पथ पर तुम चलो या मोह में पड़के रहो

के ओर ध्यान दीजिये कि वह कैसा पराक्रमी नरेश होगया जिस के नाम का सम्वत् आज तक चला आता है। और फिर उस के त्याग को देखिये कि वड़ा भारी ऐश्वर्य-शाली होने पर भी चटाई पर सोया करता था। और क्षिप्र नदी से अपने लिये पानी लाकर स्वयम् अपने लिये भोजन वनाता था। अन्य जाति व देश वाले यह तो कहें कि हमारी जाति व भूमि में एक भी राजा ऐसा हुआ हैं ? जो परलोक सुख के अर्थ राज्य शाशन करता रहा हो। वतावें कहाँ से ! जव हुये हो तव न॥ प्रिय वन्धुओं मुझे तो विश्वास है कि इन्द्रियो की आधीतना त्याग कर राज करने वाले राजर्षि आर्य-भूमि और आर्य जाति में ही हुये हैं। और होंगे। अन्य देश और जाति में उपरोक्त प्रकार के राजाओं का मिलना असम्भव ही मालूम होता है।

(२३)

नर देह कर्म क्षेत्र में हम कृषक बन कर हैं खड़े
उपदेश हमको दे गये यह आप्त जन हैं सब बड़े
बस, कर्म रूप कृषी यहाँ जिस भांति हम कर जायँगे
परलोक में सब भांति से हम तो उसी को पायँगे

(२४)

इस से सदा हम स्वार्थ तज निज देश सेवा व्रत करें
सत्प्रेम धारा में सदा अपने मनों को रत करें
मद मोह आलस्यादि इन सब दुर्गुणों को छोड़दें
आनन्द सागर में सदा को प्रेम अपना जोड़दें

(२५)

यह योग ही आनन्द दायी योग होता है तथा
इस लोक की परलोक की मिटती इसी से है व्यथा
इस योग से ही आर्य जन सब मुक्ति पद को पागये
अपना विमल यश लोक में वे सर्वदा को छागये

(२६)

कहते तथा इस योग को सत्प्रेम है संसार में
अतएव हम बहते रहें सत्प्रेम की ही धार में
सत्प्रेम धारा ही हमें आनन्द दे सकती महा
सिद्धान्त शास्त्रों का यही है मुनि जनों ने जो कहा

१—जोड़।

पञ्चम प्रवाह।

सारांश।

(१)

जिस के बिना भगवान से होता नहीं सम्मेल है
जिस के बिना चलता नहीं संसार का यह खेल है
जिस की कृपा बिन मोक्ष पद को जीव हैं पाते नहीं
जिस के बिना संसार को हम लौट कर आते नहीं

(२)

जिस के बिना इस जीव को आनन्द मिल सकता नहीं
जिस की दया से मन जगत में घूम कर थकता नहीं
जिस के अनुग्रह से अहा ! हम जीव हैं हँसते कभी
आधीन होकर जीव जिस के विश्व में फँसते कभी

(३)

रोते कभी हम जीव जग में हाय ! जिस की मार से
होते तथा हम पार जिस से विश्व पारावार से
जिस की मदद से योग हैं योगी यहाँ करते सभी
जिस से अहा ! आधार से सतियाँ सती होती कभी

(४)

जिस की अतीव सहायता से मृत्यु से भी भय कभी
होती नहीं है जीव को होता न जगका दुःख भी
मन बुद्धि आदिक इन्द्रियाँ सब छोड़ती जिस को नहीं
आनन्द मिलता है जहाँ जो सर्वदा जाता वहीं

(५)

ऐसे गुणों से युक्त मित्रो ! जानलो तुम प्रेम है
दुख यह कभी देता, कभी होता इसी से क्षेम है
जिस जीव को यह प्रेम जब सन्मार्ग में जाता अहा !
उस जीव को तब तो वहाँ आनन्द मिलता है महा

(६)

जिस काल में यह प्रेम है दुर्मार्ग में जाता तथा
सब भांति से उस काल में उस मार्ग में देता व्यथा
अतएव भारत सुत सभी सन्मार्ग में स्वप्रेम को
रखते रहें जिस से सदा हम प्राप्त होवें क्षेम को

(७)

जो है हमारी मातृ भू जिस ने जियाया है हमें
निज देह का सम्पूर्ण रस जिस ने पिलाया है हमें
जिस जन्म भू की बन्धुओं ! हम पुण्य पावन गोद में
खेले बहुत बहु भांति से हम होकर बडे आमोद में

(८)

क्या योग्य हम को देखनी है आज उसकी आपदा
दुर्मार्ग पर ही प्रेम अपना क्या रखेंगे हम सदा !
निज देश सेवा में हमारा प्रेम यह कब जायगा
मित्रो ! हमारा प्रेम हा ! सन्मार्ग को कब पायगा

(९)

अर्थात्—हमारा प्रेम यह आनन्द में जाता सदा
पर, प्रेम के आधार की विश्लेषता है आपदा
अतएव अव्यय ब्रह्म में ही प्रेम रखना चाहिये
उस ब्रह्म की ही प्राप्ति का सुस्वाद चखना चाहिये

(१०)

उसके लिये ही स्वार्थ तजकर कर्म करने चाहिये
बस, जन्म लेकर जन्म भू के क्लेश हरने चाहिये
श्री राम आदिक भी यहाँ अवतार लेकरके सदा
हरते रहे सब भांति से इस मातृ भू की आपदा

(११)

जो सुख दुखों का ध्यान तज कर्त्तव्य में संलग्न है
संसार में सज्जन वही सत्प्रेम नद में मग्न है
सत्प्रेम के ही मार्ग का अब ध्यान हम सब विधि करें
उस के लिये भगवान की भी प्रार्थना इस विधि करें

ईश्वर प्रार्थना

(१२)

हे ज्ञान घन ! सर्वज्ञ भगवन् ! दीन बन्धु दया निधे;
माता पिता भ्राता सखा तुमहीं हमारे हो विधे;
हे अज ! अनन्त अचिन्त्य अच्युत हे हरे ! आनन्द मय
संसार को रचते तुम्हीं करते तुम्हीं हो फिर प्रलय ?

(१३)

निष्काम भी होते हुये तुम पालते संसार को:
आकार से हो हीन पर. धरते सदा भू भार को
निर्लेप भी होते हुये सबसे मिले हो तुम हरे !
निर्गुण तथा होते हुये भी तुम गुणों से ही भरे !

(१४)

संसार बन्ध्र अखण्ड हो तुम प्राण के भी प्राण हो
हो प्राण के हर्ता तुम्हीं करते तुम्हीं तो त्राण हो
हे आर्ति हारिन ! हे पितः ! आद्यन्त से तुम हीन हो
पर, योगियों के हृद्सरोवर के सदा तुम मीन हो

(१५)

वीतेच्छ[१] जन भी चाहते तुम को सदा विश्वेश जब
हम क्यों नहीं रोवें तुम्हारे दर्श बिन सर्वेश तब
सर्वत्र व्यापक हो प्रभो पर, दृष्टि में आते नहीं
हो पास ही पर मोह वश तुम को न हम पाते कहीं

१-जिस को किसी प्रकार की इच्छा न हो।

(१६)

दर्शन तुम्हारे हे जनार्दन ! जीव पाते जो अहा ?
वे आप के ही तुल्य होकर हैं सुखी होते महा
प्रज्ञा तुम्हारी ढूँढ़ करती किन्तु पा सकती नहीं
वाणी तुम्हारी गुण-कथा क्या पूर्ण कह सकती कहीं !

(१७)

हो तुम अगोचर ही सदा, हैं वेद भी कहते तथा
किस भांति वर्णन कर सकें फिर हम तुम्हारी गुण कथा
जिस विध अनिर्वचनीय हो तुम हे सुरेश्वर ! सर्वथा
गुण भी अनन्त अगम्य ब्रह्मन् ! हैं तुम्हारे सर्व तथा

(१८)

हे दयामय ! कर दया सुनलो हमारी प्रार्थना
अपनी दया विस्तार कर दे दो हमें अब सान्त्वना
अब भी हमें हे दयालो ! मार्ग शुभ की आश हो
जो ले गई हम को कुपथ वह क्षति हमारी नाश हो

(१९)

सब से प्रथम तुम ने हमें थी वेद-भाषा भक्ति दी
सच्छास्त्र का उपदेश देकर थी अलौकिक शक्ति दी
अब तो हमें ही हे विभो ! परतन्त्र पद तुम ने दिया
हे नाथ ! हम पर कोप कर सोचो भला यह क्या किया

(२०)

भूलो न तुम शाश्वत ! हमें फिर भी हमें वह ध्यान हो
जिस से हमें सम्पूर्ण स्वप्राचीन गुरुता ज्ञान हो
हे पतितपावन ! फिर हमें निज जाति की पहिचान हो
हे हे सुखद ! हम को तथा निज देश का अभिमान हो

(२१)

निज पूर्वजों के तुल्य हम को पुण्य पावन ज्ञान हो
जिस से उन्हीं के सम हमारा फिर यहाँ सम्मान हो
सत्प्रेम का उद्गार हो हम शक्ति शाली हों सभी
संसार शुभ संग्राम में पीछे न देखें हम कभी,

(२२)

हम हे निरंजन ! दुर्गुणों के सब गणों से दूर हों
परमार्थ पथ पर हे अजन्मन ! हम सदा ही शूर हों
सत्प्रेम धारा मय हमारे सबमनो मय राज्य हों
दुष्प्रेम कलुषित-पंक हम से सर्वदा ही त्याज्य हो

(२३)

सत्प्रेम ही जग में हमारे प्राण का आधार हो
सब भांति विश्वम्भर ! हमें सुख शान्तिमय संसार हो
सब रीतियों से हम सदा कर्त्तव्य में संलग्न हों
इस लोक से परलोक तक आनन्द में हम मग्न हों

(२४)

यूँ मित्र गण ! कर प्रार्थना दैत्यारि जगदाधार की
हरते रहो अपनी सदा संतप्तता संसार की
अब लेखनी को बान्धवो ! विश्राम देता हूँ यहीं
देना जगह निज चित्त में मम इस विनय को भी कहीं

इति ।

